WAHI EK EKTA KA AADHAR

WRITER: ALLAMA SYED ABDULLAH TARIQ

Uploaded by : http://faizanbhai.blogspot.com

Youtube: http://youtube.com/deenkidawat

Blog: http://sanatandharmaurislam.blogspot.com

Designed & Printed by: Humam Publications, New Delhi, Mob. 9811200621

ॐ

वही एक एकता का आधार

विचारक :
आचार्य मौलाना शम्स नवेद उस्मानी
लेखक :
सैयद अबदुल्लाह तारिक

प्रथम भाग
सनातन धर्म

उस परमेश्वर के नाम से जो एकमात्र रचयिता, पालनकर्त्ता और संहर्त्ता है

परन्तु दुर्भाग्यवश लोग पूजा उपासना उसके बजाय अन्यों की करने लगते हैं

वही एक एकता का आधार

'सनातन धर्म'

विचारक :

आचार्य मौलाना शमस नवेद उस्मानी

एकता का आधार

लेखक :

सैय्यद अब्दुल्लाह तारिक़

संयुक्त पुस्तक

'एकता का आधार'

का भाग 1 सनातन धर्म

पहली बार: मई 1991

वर्तमान संस्करण

2011

इस पुस्तिका के
सर्वाधिकार 'लेखक' द्वारा
सुरक्षित हैं। कोई भी सज्जन
इस पुस्तिका का नाम व अन्दर का मैटर
आदि आंशिक व पूर्ण रूप से तोड मरोड़
कर एवं किसी भी भाषा में छापने
व प्रकाशित करने का बिना
आज्ञा कष्ट न करें.

Rs. 15.00

रौशनी पब्लिशिंग हाउस

बाज़ार नसरुल्लाह ख़ां,

रामपुर 244901

(यू० पी०)

भाग 1 सनातन धर्म भाग 1 सनातन धर्म भाग 1 सनातन धर्म भाग 1 सनातन धर्म

भाग 1
सनातन धर्म

भाग 1 सनातन धर्म भाग 1 सनातन धर्म भाग 1 सनातन धर्म भाग 1 सनातन धर्म

मेरा अधिकार !

प्रस्तुत पुस्तिका भविष्य में प्रकाशित ग्रन्थ 'वही एक-एकता का आधार' का प्रथम अध्याय है। सनातन धर्म, ईसाई मत, सिक्ख मत व इस्लाम के प्रचलित स्वरूप अपने मूल धर्म ग्रन्थों वेद, बाइबिल, गुरू ग्रन्थ व क़ुरआन में विदित एकेश्वरवाद, प्रवर्त्तक शिक्षाओं से कहां-कहां भिन्न हो गए हैं, यह मूल पुस्तक का विषय है। उसके प्रत्येक अध्याय में किसी एक धर्म की प्रचलित मान्यताओं का उसी धर्म विशेष के ही मान्य धर्म ग्रन्थों के प्रकाश में विश्लेषाण किया गया है। परिस्थितिवश सम्पूर्ण ग्रन्थ को प्रकाशित न करके आवश्यकतानुसार ग्रन्थ के प्रथम अध्याय सनातम धर्म को ही अभी प्रकाशित किया जा रहा है। भविष्य में भी यदि सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित कर सकने में सामर्थ्य न प्राप्त हुआ तो इसी क्रम के अन्य अध्यायों को स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत किया जाएगा।

मूल पुस्तक के अप्रकाशित रूपांकन के दूसरे अध्याय 'ईसाई-मत' को पढ़ते हुए मेरे मित्र श्री अनिल मधुर ने बड़ा दिलचस्प प्रश्न उठाया : "ईसाई धर्म पर इस प्रकार लिखने का आपको क्या अधिकार है?" मैं ने कहा- "मैं स्वयं ईसाई हूं मुझे अधिकार न होगा तो किसको होगा"? उन्होंने आश्चर्य से मेरी ओर देखा तो मैंने स्पष्ट किया — "मैं इन्जील में आस्था रखता हूं, ईसा मसीह में आस्था रखता हूं, बताइये ईसाई और किसे कहते हैं? क्या ईसाई की इससे भिन्न कोई

अन्य परिभाषा है? ईसाईयत पर लिखते समय मैं केवल बाइबिल ही को तो आधार मान रहा हूं। यदि कुछ ईसाई भाइयों की एक परमेश्वर सम्बन्धी मान्यताएं इन्जील से दूर जा रही हैं तो मुझे दुख क्यों न हो? मैं आलोचना तो नहीं कर रहा, दुखी मन से, प्रेम भाव से विवश होकर यदि इस ओर ध्यानाकर्षण करता हूं तो मुझे इसका अधिकार क्यों नहीं है? इसी प्रकार मैं वेद के प्रति श्रद्धावान हूं महाजल प्लावन वाले मनु (नूह) जिन पर वेद के उसी एकेश्वरवाद का अवतरण हुआ जो अन्त में क़ुरआन ने याद दिलाया है, मैं उन पर और वेद के उस संदेश में आस्था रखता हूं। क्या मैं सच्चा सनातन धर्मी नहीं हुआ? क़ुरआन व हज़रत मुहम्मद (स0) में मेरी अटूट आस्था है। मैं मुस्लिम हूं। क़ुरआन ने मुझे गत सभी ईशदूतों व ईश ग्रन्थों में आस्था रखने का आदेश दिया है। वास्तव में एक सच्चा सनातन धर्मी व एक सच्चा ईसाई हुए बिना मैं एक सच्चा मुस्लिम भी नहीं हो सकता। ये सभी धर्म ग्रन्थ, देवदूत व पैग़म्बर जिस सनातन धर्म के निर्वाह की बात करते हैं और वह सनातन धर्म जिस एकेश्वरवाद की शिक्षा देता है, मैं उसी एकेश्वरवाद का प्रचारक हूं"।

आशा है, पाठकगण मूल पुस्तक के प्रथम अध्याय के रूप में प्रस्तुत इस पुस्तिका को एक मुस्लिम लेखक द्वारा सनातन धर्म की आलोचना का प्रयास नहीं समझेंगे। वेद किसी एक वर्ग विशेष की सम्पत्ति नहीं है। उन पर जितना अधिकार आपका है, उतना ही मेरा भी है।

सैय्यद अब्दुल्लाह तारिक़
विश्व कल्याण आगम संस्थान (विकास)
बाज़ार नसरुल्लाह ख़ाँ रामपुर 244901 (यू0 पी0)

साकार उपासना

साकार उपासना?

साकार उपासना प्रत्यक्ष या सूक्ष्म किसी न किसी रूप में हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों तथा ईसाइयों के कुछ समुदायों में पाई जाती हैं परन्तु इनमें स्पष्ट रूप से प्रतीक पूजा के समर्थक सनातन धर्मी हिन्दू ही हैं। अन्य सभी अपनी-अपनी साकार पूजा के व्याकार का किसी न किसी रूप में प्रकारांतर से निराकरण करते हैं।

सनातन धर्मी हिन्दू प्रायः मूर्ति पूजा के पक्ष में हैं। आइये देखें कि उन्हीं के मान्य धर्म ग्रन्थ तथा विद्वान इस विषय में क्या कहते हैं।

वेद में देखें :

"....नैनमूर्ध्व न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत" (यजुर्वेद 32:2)
उस को ऊपर, इधर उधर अथवा मध्य में कहीं भी ग्रहण नहीं किया जा सकता।

अर्थात, उसे प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता वह देश-काल के परे है। परमेश्वर की मूर्ति नहीं बनाई जा सकती, यह वेद मन्त्र इस का प्रमाण है। इससे अगले ही मन्त्र में इस तत्व की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि —

"न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः ..." (य0 32:3)
उस की कोई प्रतिमा नहीं है, उसका नाम ही अत्यन्त महान है, सबसे बड़ा यश यही है।

जिस की कोई प्रतिमा नहीं, उसका कोई चित्र या कोई मूर्ति नहीं बन सकती, यहां साफ़ निराकार उपासना का आदेश है। और देखिये —

"स पर्य्यगाच्छुक्रमकायम..." (य0: 40:8)
वह सर्वव्यापक और अकाय (शरीर रहित) है।

जिसका कोई देह नहीं उस की मूर्ति कैसी? साकार उपासना के निषेध में आगामी वेद मन्त्र बहुत महत्वपूर्ण हैं —

"अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसभूतिमुपासते। ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः।।" (य0: 40:9)
जो असम्भूति[1] अर्थात प्रकृति रूप जड़ पदार्थ (अग्नि, मिटटी, वायु आदि) की उपासना करते हैं, वे अज्ञान अंधकार में प्रविष्ट होते हैं और जो 'सम्भूति' अर्थात इन प्रकृति पदार्थों के परिणामस्वरूप सृष्टि (पेड़ पौधे मूर्तियां आदि) में रमण करते हैं वे उससे भी अधिक अंधकार में पड़ते हैं।

इससे अधिक स्पष्ट निषेध और क्या हो सकता है?

गीता में देखें :

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्" ।। (गीता 9:11)
मेरे परम भाव को न जानने वाले मूर्ख लोग मुझ सम्पूर्ण भूतों के महान ईश्वर को शरीरधारी समझ कर मेरा अपमान करते हैं।

गीता (13:10) में अव्यभिचारिणी भक्ति का आदेश दिया गया है। अव्यभिचारिणी भक्ति क्या है? जिस प्रकार पतिव्रत में किसी अन्य व्यक्ति को साक्षी बनाना व्याभिचार, कहलाता है, ऐसे ही ईश्वर के ऐश्वर्य में किसी को साझी बनाना 'भक्ति में व्याभिचार' होता है। गीता में परमेश्वर की सूक्ष्मता का वर्णन इस प्रकार है —

"सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं" (गीता 13:15)

वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है।
निश्चय ही जो सूक्ष्म हो उसकी मूर्ति नहीं बन सकती।

पुराणों में देखें :

श्रीमद्भगवत् महापुराण में कहा गया कि

"न देवा मृच्छिला मयाः" (श्रीमद भगवत महापुराण 10:84:11)

मिट्टी पत्थर आदि की मूर्तियां देव नहीं होती हैं।

आगे चलकर भाग्वत के इसी अध्याय में 13वें मंत्र में तो मूर्ति पूजा करने वालों को गधा तक कहा गया है। गरुड़ पुराण का निम्न श्लोक भी देखें —

"न काष्टे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्"
(गरुड़ पुराण धर्म काँ० प्रेत खण्ड, 38:13)

वह देव न तो लकड़ी में, पत्थर में और न मिट्टी (से बनी मूर्ति) में हैं, वह तो भाव में विद्यमान है जहां भाव करें वहाँ ही परमेश्वर सिद्ध होता है।

अनीश्वरवादियों का प्रभाव :

जिन्होंने कभी संसार भर को ज्ञान के तेज से प्रकाशमान किया था, उन्होंने अपने ही ज्ञान स्रोतों के प्रतिकूल धारणाएं ग्रहण कर लीं। 'उन पर यह किस का प्रभाव पड़ा'? इस प्रश्न के उत्तर में जैन मत के मानने वाले गर्व से कहते हैं कि हिन्दुओं ने मूर्ति पूजा उन से सीखी। जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते उनको तो अनात्मवादी होने के कारण आश्रय की तलाश थी और यह सहारा उन्हें जड़ पदार्थ ही में मिल सकता था परन्तु वैदिक धर्म वालों ने अपनी आध्यात्मिकता को क्यों थपक-थपक कर सुला दिया था कि उपासना के लिये उन्हें प्रतीकों की आवश्यकता पड़ी।

लाला सुमैर चन्द्र जैन कहते हैं — (उर्दू से हिन्दी)

> "मूर्ति पूजन पहले जैनियों ने चलाया, यह दुरुस्त है, क्योंकि जैन शास्त्रों में लिखा है कि भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर 72 मन्दिर बनवाए। भरत का ज़माना तहज़ीब (संस्कृति) का इब्तिदाई (प्रारम्भिक) ज़माना है। भरत के बाद अन्य जैनियों ने महापुरुषों की मूर्तियां बनाईं और इस तरह उन की ताज़ीम (प्रतिष्ठा) करके दुनिया को गुण की क़दर (सम्मान) करना सिखलाया"[2]।

मूर्ति पूजा का प्रचलन जैनियों में बहुत लोकप्रिय हुआ जिससे ऐसा आभास होने लगा कि यह जैन मत का आवश्यक अंग है। इसके बावजूद स्वयं जैनियों में बहुत से मतावलंबी इसकी तीव्र निन्दा करते हैं। दिगम्बर जैनियों में तारन पंथ तथा समया पंथ और श्वेताम्बर जैनियों में स्थानकवासी, लोका व ढूंढया पंथ मूर्ति पूजा के विरोधी हैं। स्थानकवासी (जैनी) पंथ के लोग कहते है — "जैसे बालक अपनी लाठी को घोड़ा कह देता है वैसे ही हम पत्थर की मूर्ति को भगवान का आकार कह देंगे मगर नमस्कार नहीं करेंगे और उसके आगे लड्डू पेड़ा नहीं रखेंगे"।

जिस प्रकार आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती के मूर्ति पूजा से घृणा के पीछे उनके 14 वर्ष की आयु में शिवरात्रि को चूहे के शिव की मूर्ति पर चढ़ते व चढ़ावे की मिठाई खाते हुए देख लेने की घटना थी उसी तरह जैनियों में तारनपंथ के संस्थापक तारन स्वामी के मूर्ति पूजा त्यागने की भी एक पृष्ठभूमि है।

एक रोज़ तारन स्वामी मन्दिर में गए और भोजन का थाल महाराज के सामने रखा। स्तुति आदि करके रोटी खाने अपने घर चले आए। जब फिर लौट कर गए तो देखा कि भगवान की मूर्ति ने थाल में से एक निवाला भी नहीं खाया था। सोचा, शायद भगवान ने स्नान न किया हो। दो-तीन दिन बाद वह भगवान की मूर्ति को तालाब में स्नान कराने ले गए और डुबकी मार कर मूर्ति को तली में छोड़ दिया फिर बाहर आकर कहने लगे कि चलिये देर होती है। कोई उत्तर न पाया तो कह कर चल दिये कि अच्छा में जाता हूँ भोजन करके मन्दिर में आऊँगा, इस बीच आप चले आएं। तारन जब मन्दिर पहुँचे तो भगवान को न पाया। उसी दिन उनके पिता गाँव को लौटे तो तारन ने सारा विवरण सुनाया। पिता ने क्रोधित होकर तारन को नदी में डुबो दिये जाने का आदेश दिया। वह न डूबे। उन्हें विष दिया गया, परन्तु वह बच गए। यह आगे चल कर तारन स्वामी बने।

वैदिक काल में मूर्ति पूजा का प्रचलन न था। इस की प्रथा कैसे और कब चल पड़ी, इस संदर्भ में स्वामी विवेकानन्द का विचार है कि —

> "सगुण ईश्वर के विरुद्ध बुद्ध के लगातार तर्क करने के फलस्वरूप भारत में प्रतिमा पूजा का सूत्रपात हुआ। वैदिक युग में प्रतिमा का अस्तित्व नहीं था, उस समय लोगों की यही धारणा थी कि ईश्वर सर्वत्र विराजमान है किन्तु बुद्ध के प्रचार के कारण हम जगतसृष्टा एंव अपने सखास्वरूप ईश्वर को खो बैठे और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिमा-पूजा की उत्पत्ति हुई। लोगों ने बुद्ध की मूर्ति गढ़ कर पूजा करना आरम्भ किया"[3]।

प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में नहीं है ः

प्राचीन हिन्दू धर्म साहित्य पर जब हम नज़र डालते हैं तो न केवल वेदों में बल्कि प्रधान उपनिषदों में भी प्रतीक उपासना का उल्लेख नहीं है। 108 उपनिषदों में 10 उपनिषद सर्वमान्य हैं। ये ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक हैं। ये सभी मूर्ति पूजा वृत्तान्त से ख़ाली हैं। वाल्मीकि रामायण के नाम से आज जो ग्रन्थ उपलब्ध है, उस के विषय में विद्वान क़रीब-क़रीब सर्वसम्मत हैं कि इस का अधिकांश भाग प्रक्षिप्त है। शोधकर्त्ता कहते हैं कि मूल रामायण में 6680 श्लोक थे जबकि इसकी वर्तमान श्लोक संख्या 24000 है। वर्तमान प्रक्षिप्त रामायण में भी रावण द्वारा लिगं स्थापना के अतिरिक्त मूर्ति-उपासना का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वहां स्थान-स्थान पर राम, लक्ष्मण और सीता के प्रातः व सायंकाल में संध्या उपासना तथा जप-हवन आदि का बयान तो मिलता है। परन्तु मूर्ति-उपासना का संकेत मात्र भी प्रसंग नहीं है, इससे ज्ञात होता है कि जिस काल में रामायण में क्षेपक हुआ तब तक भी मूर्ति-पूजा आदर्श हिन्दुओं में प्रचलित न थी। महाभारत ग्रन्थ के अधिकाशं भाग का भी प्रक्षिप्त होना सर्वमान्य है। विद्वानों का मत है कि इसके प्रथम रचियता वेद व्यास ने 8000 श्लोकों पर आधारित इतिहास लिखा था। और उसका नाम 'जय' रखा था। फिर उनके शिष्य 'वैशम्पायन' ने श्लोकों की संख्या बढ़ा कर 24000 कर दी और उसका नाम 'भारत' रखा। आज इस ग्रन्थ में एक लाख से अधिक श्लोक हैं और नाम 'महाभारत' है। 'महाभारत' में जहाँ एक ओर मूर्ति पूजा का विधान है वहीं दूसरी ओर इसके स्पष्ट विरोध में भी श्लोक इस विशाल ग्रन्थ में हैं। जैसे—

"मृच्छिलाधातुदार्वादि मूर्तावीश्वरबुद्धयः
किलश्यन्ति तपसा मूढाः परां शान्ति न यान्ति ते"

मूर्ख लोग मिट्टी, पत्थर, धातु या लकड़ी की मूर्तियों को ईश्वर समझते हैं। इन लोगों को कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

यह समझना कठिन नहीं है कि महाभारत के मूल 8000 श्लोकों में इन दो परस्पर विरोधी तत्वों में से क्या रहा होगा तथा कौन सी मान्यता बाद का प्रक्षेपक है।

पुराण प्रायः बहुत बाद के काल की रचनाएं हैं। इन में कुछ पुराणों में प्रतिमा पूजा का निषेध है जैसा कि इस लेख में उदाहरण दिये गए हैं। और कुछ पुराणों में प्रतीक पूजा पौराणिक काल की ही देन है।

यह स्वाभाविक है कि जब तक प्रतीक-पूजा के तार्किकता की ज्ञानियों या धर्म पंडितों द्वारा पुष्टि न की गई हो, साधारण जन भी इतनी बड़ी संख्या में भ्रान्तिग्रस्त नहीं हो सकते। दुर्भाग्यवश ऐसा ही हुआ था और अब तक होता चला आ रहा है। आख़िर क्यों?

साकार उपासना निराधार नहीं है!

डा० चमन लाल गौतम लिखते हैं —

"ऋषियों ने मूर्ति पूजा की प्रथा चलाई ताकि वह उस मूर्ति को माध्यम बना कर साकार रूप में अपने सामने देख सकें..."[4]

साकार उपासना के पक्ष का यह तर्क अतात्विक नहीं है कि साधारण जन को उपासना में ध्यान केंद्रित करने के लिये साकार माध्यम की आवश्यकता होती है। परन्तु प्रतीक पूजा तो प्राचीन धर्म ग्रन्थों के अनुकूल नहीं हैं। फिर इसका समाधान क्या हो? निश्चय ही यह समस्या भी प्राचीन है। जिन ग्रन्थों में पूजा का निषेध है उन्हीं में इसका समाधान भी था।

सामंजस्य ः

ऋग्वेद ने आदि काल ही में बता दिया था कि **"सत्यश्चित्र श्रवस्तमः"** चित्र या मूर्ति तो वही सत्य है जो श्रवण करती है अर्थात् सजीव है। इन्सान इस ब्रह्माण्ड रूपी मन्दिर में ईश्वर-कृत मूर्ति है। माटी नर उस की कला का सर्वश्रेष्ठ प्रतिरूप है। हर कला अपने सम्पन्न कर्ता का स्मरण कराती है। मानवकृत मूर्तियां, शिल्पकारों की कला को प्रदर्शित करती हैं। इन्सान को देखकर उसको बनाने वाला कलाकार, सृष्टिकर्ता याद आता है। यह सजीव मूर्ति उसकी उपासना का अनुपम माध्यम है इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करते हुए गीता ने बताया —

"संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्" (गीता 6:13)

स्वयं अपनी ही नाक के अग्र भाग पर इस प्रकर दृष्टि जमाओ कि किसी अन्य दिशा में न देख सको।

गीता ने उपासना के समय स्वयं अपनी नाक के अग्र भाग पर ध्यान केन्द्रित करने को कहा था और साथ ही अन्य किसी भी दिशा में अवलोकन करने से मना भी किया था। नाक पर ध्यान जमा कर हम सोचें कि इस सुन्दर मूर्ति के निर्माता की महिमा अद्वितीय है। वही हमारा कर्त्ता है। श्वास से वह हमें पाल रहा है। भोजन पानी के विषय में तो यह भ्रान्ति मन में आ सकती है कि माता-पिता या अन्य लोग देते हैं परन्तु श्वास का भोजन जिस के बिना क्षण भर भी जीवन का अस्तित्व बाक़ी नहीं रह सकता, सोते जागते हमें कौन प्रदान करता है? निश्चय ही वही हमारा पालनकर्त्ता है। एक दिन इसी नाक से आने वाले श्वास को रोक कर वही इस मूर्ति को तोड़ देगा। वही हमारा संहर्ता है। इस श्वास को प्रदान करने वाले का चिन्तन तथा उसे धन्यवाद अर्पित करना ही विश्वास है। ऋषियों ने वेद और गीता की बताई इस उपासना विधि के लिये 'साष्टांग' अवस्था प्रस्तावित की। वर्तमान में 'साष्टांग' का सही तरीक़ा भी लोग भूल गए हैं। वे डाण्डवत प्रणाम को साष्टांग समझने लगे। साष्टांग शब्द स्वयं अपनी उचित अवस्था की व्याख्या है। साष्टांग = स+अष्ट+अंग अर्थात् अष्ट अंगों सहित। जिस

आसन में शरीर के आठ अंग भाग लें वह साष्टांग है। दो पैरों के पंजे, दो घुटने, दो हाथ, नाक व माथा, ये आठ अंग धरती पर टेक कर साष्टांग होता है।

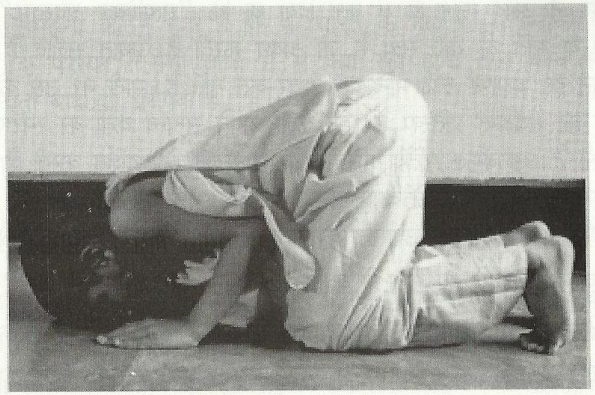

साष्टाँग (सजदा) ⇑⇑ धरती को स्पर्श करने वाले 8 अंग
2 पैरों के पंजे + 2 घुटने + 2 हाथ + 1 नाक + 1 माथा

इस के अतिरिक्त कोई अन्य अवस्था ऐसी सम्भव नही है जिस में शरीर के आठ अंग भाग लें। यही वह आसन है जिसमें अपनी नाक के सिवाय किसी अन्य दिशा में देखना सम्भव नहीं है। उल्लेखनीय है कि जब गीता ने योगी (ईश्वर से जुड़ने वाले) को अपनी नाक के अग्र भाग के अतिरिक्त किसी भी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने से मना किया था तो ध्यान करने के लिये मूर्ति न केवल अनावश्यक होगई बल्कि उसका स्पष्ट निषेध होगया।

अपनी साकार देवकृत मूर्ति की नाक पर ध्यान जमा कर निराकार ब्रह्म का चिन्तन करना ही साकार व निराकार उपासना का सामंजस्य है।

बहुदेव-वाद

सनातन धर्म में बहुदेव वाद के संदर्भ में महान विद्वान वेदमूर्ति प० श्री राम शर्मा आचार्य का महत्वपूर्ण विश्लेषण विशेष रूप से विचारणीय है।

"भारतीय तत्तवेत्ताओं ने विश्व की रचना प्रक्रिया से लेकर नीति-सदाचार की प्रेरणा प्रक्रिया तक को समझाने के लिये देव प्रतीकों की संरचना की है। अनन्त सत्य की अभिव्यक्तियों को इन पुराण प्रतीकों द्वारा अभिव्यञ्जित किया गया है[1]"।

"भारत के देवताओं को सत्यप्रवृत्तियों का प्रतीक मान कर उनकी आकृत्तियों का गठन किया गया है"[2]।

आचार्य श्री के कथनों से ज्ञात होता है कि बहुदेव-वाद वैदिक काल के बहुत बाद तत्वेत्ताओं की परिकल्पना है। एक ब्रह्म के सामर्थ्य के विभिन्न रूपों का दर्शन कराना ही इसका अभिप्राय था। इसी वास्तविकता का व्याख्यान आचार्य श्री ने निम्न शब्दों में किया है—

"भगवान एक है..... भगवान की सत्ता में न कोई साझेदार है और न उसका कोई सहायक। इस समूची सृष्टि का कर्त्ता-धर्ता वह एक ही है। उसके विभिन्न गुणों को विभिन्न देवताओं के नाम से ऋषियों ने पुकारा है। कहा है — **एको विश्वस्य भुवनस्य राजा** अर्थात् एक ही परब्रह्म को विद्वानों ने अनेक नामों से संबोधित किया है"[3]।

एक निराकार ईश्वर के गुणात्मक नामों को पृथक-पृथक देवी देवताओं के नाम देना और फिर इन प्रतीकों की साकार आकृत्तियां निश्चित करना उपयोगी न होकर निष्फल और निरर्थक सिद्ध हुआ। सबसे बड़ी हानि यह हुई की साधारण जनता तो दूर, पढ़े-लिखे समझदार वर्ग ने भी इन देवी-देवताओं का व्यक्तिगत स्वरूप तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व मान कर इन्हें पूजना शुरू कर दिया। एक ईश्वर जिस का कोई साझी नहीं है उसके ऐश्वर्य में 33 करोड़ साझी बना दिये गए, धर्म का स्वरूप ही बदल गया, वेद विरुद्ध हो गया वेदों ने तो बताया था कि —

"त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
तवं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्त्त सचसे पुरन्ध्या"।। (ऋग्वेद 2:1:3)

हे अग्ने (ईश्वर), तुम ही सज्जनों की कामनाएं पूरी करने वाले इन्द्र हो, तुम ही उपासना के योग्य हो तुम ही अनेकों के प्रशंसनीय विष्णु हो, तुम ब्रह्मा और ब्रह्मनस्पति हो।

"य एक इत्तमुष्टुहि" (ऋग्वेद 6:45:16)
वह एक ही है उस ही की स्तुति करो।

"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" (ऋग्वेद 10:121:1)
वही पृथ्वी तथा आकाश लोक का धारणकर्त्ता है। (उसे छोड़ कर) हम किन (देवी) देवताओं को हवि प्रदान करें।

"मा चिदन्यद्वि शन्सत..." (ऋग्वेद - 8:1:1)
उसके अतिरिक्त किसी अन्य कि उपासना न करो

वेदों की सतर्क चेतावनी के बावजूद देवी-देवताओं के स्वतन्त्र अस्तित्व का गठन हुआ। एक ईश्वर की भक्ति में व्यभिचार हुआ। उसके ऐश्वर्य का विभाजन हुआ। दार्शनिक पंडितों ने उपासना की सरलता के लिये साधारण जनता को जो समाधान दिया था उसके इतने ख़तरनाक

परिणाम की उन्होंने कल्पना भी नहीं की होगी। धर्म का मूल आधार ही ईश्वर तथा सृष्टि के परस्पर संबन्ध की पहचान पर है। यह पहचान ही बिगड़ गई तो धर्म कहां रहा, अधर्म हो गया। निराकार ब्रह्म के गुणों के साकार प्रतीकों का भयानक अन्जाम यह हुआ कि अब ब्रह्म ही नहीं, विष्णु की अनुकम्पा, लक्ष्मी की मेहरबानी, शिव की कृपा और काली के वरदान की चर्चा आम हो गई। इस दुर्दशा का सर्वेक्षण करते हुए प० श्री राम शर्मा आचार्य कहते हैं —

"इस सृष्टि का सृष्टा एक ही है। वही उत्पादन, अभिवर्धन तथा परिवर्तन कि सारी प्रक्रियाएं अपनी योजनानुसार सम्पन्न करता है। न उसका कोई साझीदार और न उसका कोई सहायक।..... एक ही सत्ता भिन्न-भिन्न प्रकार की हो गई और समझा जाने लगा कि जो जिस देवी-देवता की पूजा-पत्री करेगा वह उसी को अपना समझेगा और उसी की हिमायत करेगा..... यह मान्यता है आज के बहुदेव-वाद की। इस प्रकार सृष्टा का ही खण्ड विभाजन नहीं हुआ वरन अपने-अपने कुल, वंश, ग्राम, नगर के भी पृथक-पृथक देवी-देवता बन गये। ..... विभाजन और संकीर्णता इतने तक ही सीमित नहीं रही, परमेश्वर का भी बँटवारा कर लिया गया। अनेक देवी देवता बन कर खड़े हो गए। उनकी आकृति ही नहीं प्रकृति भी अपने को न पूजने, दूसरे को पूजने पर वे देवता रुष्ट होने व त्रास देने पर उतारू होने लगे..... शारीरिक, मानसिक बीमारियों को उन्हीं के रुष्ट होने का कारण माना जाने लगा।..... बहुदेवाद के पीछे अनेकानेक कथा कहानियां जोड़ी गईं और उनकी प्रसन्नता से मिलने वाले लाभों व उनकी नाराज़गी से मिलने वाले त्रासों की महात्म्य गाथाएं गढ़ ली गईं। कितने ही देवताओं का किन्हीं पर्व त्यौहारों के साथ संबन्ध जोड़ दिया गया। कईयों के स्थान विशेष पर जाना आवश्यक माना गया.... समझा जाना चाहिये कि ईश्वर एक है। उसकी व्यवस्था में अनेक साझीदार नहीं हो सकते..... सम्प्रदायों में ईश्वर की आकृति और प्रकृति अनेक

प्रकार की मानी गई है। यदि यह सच मानी जाए तो इनमें से किसी एक को सच्चा और बाक़ी सब को झूठा कहना पड़ेगा..... उनके प्रति पूज्य भाव रखते हुए भी यह निर्णय करना कठिन है कि परस्पर विरोधी इन प्रतिपादनों में कौन सही और कौन ग़लत है.... तत्व दर्शन और विवेक बुद्धि के आधार पर यह मानना पड़ता है कि परमेश्वर एक है। सम्प्रदायों की मान्यताओं के अनुसार उसके स्वरूप और विधान सही नहीं हो सकते।....व्यापक शक्ति को निराकार होना चाहिये। जिसका आकार होगा एकदेशीय और सीमित रहेगा। कहा भी गया है — न तस्य प्रतिमाऽअस्ति (यजुर्वेद 32:3) अर्थात् उसकी कोई प्रतिमा नहीं है। न स्वरूप न छवि। आप्त वचनों का एक और भी कथन ऐसा ही अभेद्य है। उसमें कहा गया है — **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** अर्थात एक ही परमेश्वर को विद्वानों ने कई प्रकार से कहा है। यहां अन्धों द्वारा हाथी का एक-एक अंग पकड़ कर उसे उसी आकृति का बताए जाने वाली कहानी याद आ जाती है।..... तत्वदर्शियों ने सर्वसाधारण की सामान्य बुद्धि को चित्रकारिता के माध्यम से मानवी गरिमा और उत्कृष्टता के लिये आवश्यक धारणाओं और प्रयासों के सम्बन्ध में रहस्यमय चित्रों में चित्रित किया है। उनका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि निराकार, सर्वव्यापी और न्यायकारी परमेश्वर की सृष्टि अवस्था में कोई साझेदार भी है और वे मात्र मनुहार, उपहार, उपचार के आधार पर प्रसन्न-अप्रसन्न होते रहते हैं। पात्रता, कुपात्रता का विचार किये बिना शाप, वरदान देते रहते हैं, रुष्ट और अप्रसन्न होते रहते हैं। ऐसी मान्यताएं अन्धविश्वास में गिनी जाएंगी और उन्हें अपनाने वालों को भ्रमित करेंगी। वास्तविकता को कोसों दूर ले जा पटकेंगी। हम में से प्रत्येक को यथार्थवादी और तत्वदर्शी होना चाहिये"[4]।

वास्तव में तत्वदर्शियों की बुद्धिमानता (या मूर्खता?) यह रही है कि सर्वसाधारण के लिये अपने से पृथक सिद्धान्त निश्चित करते समय वे अपने ऊँचे स्तर से नीचे साधारण जनता के मानसिक स्तर पर उतर कर विचार कर सकने में पूर्णतः असमर्थ रहे। एक ईश्वर के किसी गुण को शिव का नाम देकर उसकी साकार आकृति कल्पित करते समय उन्होंने यह न सोचा था कि शिव का जन्म दिन भी मनाया जाने लगेगा और यह काल्पनिक स्वरूप ऐसा व्यक्ति विशेष का रूप धारण कर लेगा कि उसके लिंग तक की पूजा होने लगेगी। सनातन धर्मी भाई विचार करें कि क्या सदा से विद्यमान ईश्वर के किसी गुण का कोई जन्म दिन हो सकता है? क्या उसके किसी गुण की गुप्त-इन्द्रियां होना सम्भव हैं? कैसे अंधकारमय अज्ञान में खो गए वह गौरवमान गण जिन्होंने कभी विश्व भर में अपने ज्ञान से उजाला फैलाया था। इस दुखद स्थिति का एकमात्र निराकरण सिर्फ़ और सिर्फ़ यही है कि एक ईश्वर के ऐश्वर्य में जितने काल्पनिक साझेदार बन गए हैं, उनके सभी प्रतीकों को सनातन धर्मी स्वयं अपने हाथों से मिटादें। आचार्य प० श्री राम शर्मा ने इस दिशा में विचार करने को आमन्त्रित किया है —

> "समझदार समुदाय तो क्रमशः अब इस जंजाल से पीछा छुड़ाते जा रहें हैं।..... इस संदर्भ में पुनर्विचार करने की आवश्यकता है अन्यथा यह भ्रम जन्जाल बढ़ता ही जाएगा, अनास्था बढ़ेगी सो अलग। उन देवताओं के एजेन्टों तथा पुजारियों के पौ बारह होते रहेंगे और बेचारे भावुक लोग अन्ध श्रद्धा के कारण अपनी जेब कटाते रहेंगे"[5]।
>
> "सृष्टि व्यवस्था में साझेदारी करने वाले स्वतन्त्र अस्तित्व के देवी देवताओं की मान्यता से मुंह मोड़ लेना ही सत्य और तथ्य को अपनाने की विवेकशीलता है"[6]।

अवतारवाद

अवतारवाद ः

अवतारवाद की मान्यता वर्तमान सनातन धर्म का आवश्यक अंग है। जब-जब धरती पर धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब धर्म स्थापना के लिये स्वयं भगवान मानव रूप में जन्म लेते हैं, यही धारणा अवतारवाद कहलाती है। आइये देखें देव वाणी कहलाने वाले वेद तथा बुद्धि विवेक के प्रकाश में यह कहाँ तक तर्क संगत है।

परमेश्वर सर्वशक्तिमान है। पापों का नाश करने के लिये उसे मानव शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी महिमा तो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है, इसीलिये उसे सर्वव्यापक कहते हैं। वेद उसकी महिमा का गुणगान करते हुए कहते हैं। —

"तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव" (अथर्ववेद 13:4:12)
केवल वह एक ही स्वयं से (बिना किसी के जन्म दिये) अकेला विद्यमान है।

"तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह" (अ0 13:4:28)
चन्द्रमा सहित ये सब नक्षत्र उसी के वशीभूत रहते हैं।

"सवा.....तस्मादापोऽजायन्त"
(अ0 13:4:29:37)
उसने दिन को प्रकट किया, रात्रि को प्रकट किया, अन्तरिक्ष को प्रकट किया, वायु को प्रकट किया, आकाश को प्रकट किया, दिशाओं को प्रकट किया, पृथ्वी, अग्नि, जल को उसी ने प्रकट किया और इन सब के प्राकट्य से (मानो) वह (स्वयं) प्रकट हुआ।

"यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः"
(अ0 13:4:46)
वही ईश्वर है जो पेड़-पौधों को उगाता है, सैराबी के लिए वर्षा करता है और जो मानव जाति की नसल को बढ़ाता है।

जो ईश्वर एक स्थान पर रहते हुए हर जगह विद्यामान है, अन्तरिक्ष से पृथ्वी तक के हर कार्य को सम्पन्न कर रहा है उसे धर्म की स्थापना के लिये, दुष्टों के संहार के लिये, संसार में मानव रूप में जन्म लेना पड़े, फिर बड़ा होकर वह यह कार्य सम्पन्न करे और मनुष्य की भाँति ही मृत्यु को प्राप्त हो! क्या यह तर्कसंगत है? संसार में धर्म की हानि होती ही क्यों है? दुष्ट क्यों बढ़ते हैं? इस लिये कि उसने भले बुरे का ज्ञान मनुष्य को देकर कर्मक्षेत्र में उसे स्वतंत्र छोड़ा है। यही परमेश्वर की नीति है। जब अधर्म बढ़ जाता है और ज्ञान का लोप हो जाता है तो मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ती है परन्तु इसके लिये वह स्वयं नहीं आता अपितु सत्पुरुषों का चयन करता है और उनके अन्तः करण में अपनी वाणी अवतरित करता है। यदि वह चाहता तो इसके बिना ही धर्म को पुनर्स्थापित कर सकता था परन्तु फिर मानव की कर्म-क्षेत्र में स्वतन्त्रा अर्थहीन हो जाती। **"अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि..."** (ऋग्वेद 1:24:10) अर्थात् "ब्रह्म के नियम नहीं बदलते"। उस ने जो आज़ादी दी है, वह मृत्यु आने तक बाक़ी रहेगी। मानव रूप में स्वयं जन्म लेकर भी सत्य के मार्ग का प्रचार वह कर सकता था परन्तु फिर इन्सान यह तर्क प्रस्तुत कर

सकता था कि "सत्य के मार्ग में जो घोर कठिनाइयां आती हैं, जिन परीक्षणों से गुज़रना पड़ता है, उन्हें हे प्रभु, आप ने सहन कर लिया क्योंकि आप मनुष्य के रूप में थे परन्तु भगवान थे। इन्सान के बस का यह कठिन रास्ता नहीं है।" इस लिये ईश्वर ने पथ-प्रदर्शन के लिए हर काल में मानव ही का चयन किया जो न केवल मार्गदर्शन करे वरन् स्वयं आदर्श बन कर भी दिखाए। सत्मार्ग पर चल कर भी दिखाए। इन्हें ईश-दूत कहना अधिक उचित है। इन सत्पुरुषों के संसार में आने को अलंकारिक रूप में 'ईश्वर का स्वयं आना' कहने में कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु होते वह मानव ही हैं।

वेद कहते हैं ईश्वर जन्म नहीं लेता —

"तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव" (अ0 13:4:12)
केवल वह एक ही स्वयं से (बिना जन्म लिए) अकेला विद्यमान है।

वेद कहते हैं, उसका शरीर नहीं होता

"... अकायम ..."(यजुर्वेद 40:8)
वह शरीर रहित है।

वेद कहते हैं, वे कभी किसी के अधीन नहीं होता

"विश्वस्य मिषतो वशी ..." (ऋग0 10:190:2)
वह सब प्राणियों को वश में रखता है।

वेद कहते हैं, वह न बूढ़ा होता है और न मरता है।

"न ममार न जीर्यति ...." (अ0 10:8:32)
वह न कभी मृत्यु को प्राप्त होता है और न कभी बूढ़ा होता है।

वेद कहते हैं कि उसका उल्लेख करते समय मृत्यु की तो कल्पना भी मत करो।

"भूयानिन्द्रो नमुराद ... पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः" (अ0 13:4:46)
वह ईश्वर इससे श्रेष्ठ है कि उसको मौत आए बल्कि अमरत्व की कल्पना से भी वह तो महानतर है।

ईश्वर के उपरोक्त गुण वेदों ने वर्णित किये हैं। अब तनिक विचार कीजिये कि जब उसको अवतार के रूप में मानते हैं तो वह अवतार जन्म भी लेता है, उसका शरीर भी होता है, वह बचपन में असहाय व अपने माता-पिता का अधीन होता है, वह दुख-सुख भी भोगता है और अन्त में मृत्यु को भी प्राप्त होता है। क्या वैदिक सिद्धान्तों से इस विचारधारा का तनिक भी सम्बन्ध है?

राम चन्द्र जी ने जन्म लिया, मृत्यु को प्राप्त हुए। ईश्वर नहीं हो सकते। श्री कृष्णा ने जन्म लिया, मृत्यु को प्राप्त हुए। ईश्वर नहीं हो सकते। ये सत्पुरुष, उत्तम पुरुष व आदर्श पुरुष हो सकते हैं जिन्हें ईश्वर ने धर्म की स्थापना व दुष्टों के संहार के लिये जन्म दिया हो। जब-जब धर्म की हानि हुई तब-तब ईश्वर ने जन्म नहीं लिया बल्कि सत्पुरुषों को पैदा किया जिन्होंने न केवल मानव जाति को उनका भूला बिसरा ईशधर्म याद दिलाया वरन उस धर्म के अनुकूल जीवन व्यतीत करके स्वयं आदर्श बन कर दिखाया। अलंकार मात्र यदि कहीं इन ईश्दूतों के आने को ईश्वर ने अपने आने की उपमा दी हो तो उसका भाव समझना चाहिये। उपनिषदों, पुराणों व इतिहास में उल्लिखित अलंकृत घटनाओं को शाब्दिक अर्थ में घटित हुई मान लेने से सनातन धर्म की बहुत हानि हुई है।

संत कबीर दास ने अवतार-वाद का विरोध करते हुए जो कहा था, उस का उल्लेख यहां अप्रासंगिक न होगा — (अंग्रेज़ी से हिन्दी)

"उन्होंने हिन्दुओं को मूर्ति पूजा व देवी-देवताओं का पूजन त्याग देने का उपदेश दिया..... उन्होंने खुल कर अवतार-वाद का खण्डन किया — सृष्टा ने सीता से विवाह नहीं किया और न ही उसने समुन्द्र पर जाने के लिए पत्थर का पुल बनाया"[1]।

"वे कहते हैं कि कमज़ोर व शक्तिशाली की असमानता को देख, संसार का स्वामी राम बन कर आया, लेकिन कबीर कहता है कि मैं उसके आगे सिर नहीं झुका सकता जिसने जन्म लिया और जो मृत्यु को प्राप्त हुआ"[2]।

संत गुरू नानक ने गुरू ग्रंथ साहिब की अपनी एक विस्तृत रचना में जो विचार प्रकट किये हैं उसका सारांश हम निम्न में दे रहें हैं —

"राम व अन्य अवतार तो साधारण मानव की भांति जीवन के उतार-चढ़ाव के फलस्वरूप दुखी होते थे, यदि वह परमेश्वर होते तो उनके भाग्य में यह कभी न होता"[3]।

मुख्य रूप से दस अवतारों की कल्पना सनातन धर्म में है। **(यद्यपि कहीं-कहीं तो 24 अवतारों तक का उल्लेख मिलता है जिनमें अनीश्वरवादी जैन व बुद्ध मत के 'ऋषभ देव जी' तथा 'बुद्ध' भी अवतारों की गणना में आ गए हैं)** इनमें से चार सत्युग में, तीन त्रेता में, दो द्वापर में बताए जाते हैं। कलियुग में एक ही अवतार कल्कि की मान्यता है जिसका आना शेष है। प० श्री राम शर्मा आचार्य की गणना के अनुसार कलियुग अब प्रायः समाप्ति पर है—

"ऐसे प्रमाण मौजूद हैं कि युग बदलने का समय आ गया है। कलियुग अब विदा हो रहा है"[4]।

कलियुग समाप्ति के तट पर है और कल्कि अवतार ने अभी तक तो जन्म नहीं लिया। विभिन्न विद्वानों की गणनाएं अलग-अलग हैं। कुछ के अनुसार अभी कलियुग पूरा होने में काफ़ी समय शेष है। वास्तविकता कुछ भी हो, क्या यह विवेचन का समय नहीं है कि कलियुग को आरम्भ हुए हज़ारों-लाखों वर्ष का समय बीत गया, इस अन्तराल में इतिहास ने रूम में नाट्यशालाओं (Collosseums) में जनता के मनोरंजन के लिये गुलामों को शेर-चीतों द्वारा फाड़ खाते

और इस दृश्य पर लोगों को तालियां बजाते देखा, यूनान में काम देवी (Aphrodite) व उसके मनुष्य प्रेमी के मिलन से उत्पन्न काम-देवता (Cupid) तथा क्यूपिड के दो नर प्रेमियों हरमूडियस व आरिस्टोगेटन के अप्राकृतिक सम्बन्धों की कहानियां गढ़ कर इन सभी की मूर्तियों को पूजते देखा, फ़िलिस्तीन में टीटुस (Titus) द्वारा डेढ़ लाख इन्सानों का क़त्ले आम देखा, अरब में लड़कियों के जन्म पर उन्हें जीवित ही ज़मीन में दफ़न करते देखा। नवीन इतिहास में फ्रांस और रूस में क्रान्ति के नाम पर लाखों इन्सानों का क़त्ल, हिटलर द्वारा साठ लाख यहूदियों की हत्या, गोरों के कालों पर अत्याचार, दो महायुद्ध व तीसरे की तैयारी इत्यादि वह घटनाएं हैं जो अभी कल और आज की दास्तानें हैं। नैतिक मूल्यों का सम्पूर्ण विनाश इन के अतिरिक्त है। बाप-बेटी, भाई-बहन, व माँ-बेटे का भोग विलास पश्चिम में आज कल साधारण सी बात है। कितने ही देशों के संविधान में पुरुषों की आपसी शादी को वैध मान लिया गया है। हीरोइन, एल-सी-डी व स्मैक जैसे भयावी मादक पदार्थों की सभ्यता के इस राज में कल्कि अवतार को आने के लिये किस कुकर्म के और फैल जाने की प्रतीक्षा है? कौन सा अधर्म अभी देखना शेष है!

ईश्वर अपनी सृष्टि से बेपरवाह कभी नहीं रहा। इस लम्बे काल में भी जिसे कलियुग कहा जाता है, समय-समय पर संसार के हर भाग में ईश्दूत आते रहे, सत्पुरुष जन्म लेते रहे, धर्म का सम्पूर्ण लोप कभी नहीं हुआ। अब भी समय-समय पर महापुरुष जन्म लेते हैं और ईश्दूतों की शिक्षाओं के अनुसार धर्म प्रचार करते हैं। हो सकता है कि कोई सत्पुरुष ऐसा कलियुग में आ चुका हो जिसे अलंकार रूप में पुराणों ने कल्कि अवतार कहा हो या कोई महान आत्मा (बिना शरीर धारण किये ही) ईश्वर की आज्ञा से अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा दुष्टों का संहार करने वाली हो और उसे ईश्वरीय अवतार की उपमा दी गई हो वरना कलियुग में जो कुछ समय अभी

शेष है, उसमें ईश्वर के देहधारण करके आने की मान्यता का बुद्धि विवेक की कसौटी पर तो कोई आधार है नहीं।

तर्क की बात चली तो इस प्रसंग में एक सूक्ष्म उक्ति पर भी विवेचन कर लें जो समान्यतः निगाहों से ओझल है। सतयुग में सत्य ही सत्य था। दुष्ट नहीं थे, पाप नहीं थे। उस युग में परमेश्वर को किसका संहार करने के लिए चार बार शरीर धारण करके आना पड़ा? त्रेता में पाप कम थे, भगवान ने तीन अवतार लिये, द्वापर में बुराईयां बढ़ गईं, भगवान दो ही बार सुधार के लिये आए और कलियुग घोर अन्धकार, अत्याचार व अधर्म का युग है, इसमें भगवान ने अभी तक जन्म नहीं लिया, शेष कलियुग में उनके एक ही बार जन्म लेने की आशा है। यह कैसा अन्याय है! बुद्धि में यह तो आ सकता है कि सतयुग में चार महानतम स्तर के ऋषि हुए हों जिनका जन्म मानो स्वयं ईश्वर के उतर आने जैसा विभूषित हो परन्तु यह कैसे मान्य हो सकता है। कि जिस युग में अधर्म न हो उस में भगवान चार बार दुष्टों का संहार करने आ जाए और ज्यों-ज्यों पापों में वृद्धि होती जाए, ईश्वर के आने में कमी होती जाए।

श्री राम चन्द्र —— भगवान नहीं मर्यादा पुरुषोत्तम :

अब तक जिन 9 अवतारों का आना बताया जाता है, उनमें त्रेता के राम और द्वापर के कृष्ण सर्वाधिक लोकप्रिय हुए हैं। अवतारों में इन्हीं की मूर्तियां सबसे अधिक पूजी जाती हैं। वाल्मीकि रामायण और महाभारत, वे मूलाधार हैं जिन से उनके जीवन काल की घटनाएं हम जान सके हैं। इन दोनों ग्रन्थों के अनेकों प्रमाणों में से एक-एक उनके भगवान न होकर इन्सान होने के पक्ष में प्रस्तुत हैं।

"(श्री राम चन्द्र जी) कहते हैं कि पृथ्वी पर कोई दूसरा मनुष्य ऐसा नहीं हैं जो मेरे समान दुष्ट कर्मों को करने वाला हो[5] ..."

ईश्वर और दुष्कर्म! जो भगवान दुष्टों का संहार करने के लिये जन्मे बताए जाते हैं, वे स्वयं दुष्ट कर्मों का शिकार हो गए! ये शब्द ईश्वर के कभी नहीं हो सकते, हाँ किसी महान पुरुष के मुख से निकले होने में कुछ सन्देह नहीं। इन्सान जितना पुनीत और महान होता है उतना ही अहंकार रहित उसका स्वभाव होता है। अच्छे कर्म करके भी ईश्वर से डरता है कि ईश्वर की इच्छानुसार संपन्न हुए या नहीं। वह सदा सतर्क रहता है कि दूसरों की दृष्टि में उसके बड़े अच्छे नज़र आने वाले कर्म, वास्तव में कहीं कुकर्म तो नहीं। पवित्रता के उच्चतम शिखर पर बिराजमान, स्वयं को पापी ही समझता है।

रामायण के प्रकाश में सोचिये —— राम, भगवान थे या मर्यादा पुरुषोत्तम? अपने समय के उत्तम पुरुष।

श्री कृष्ण भगवान नहीं नश्वर :

श्री कृष्ण की मृत्य पैर में घाव आ जाने के कारण हुई थी। महाभारत (मौसलपर्व, अध्याय 4) में इस घटना का विवरण है। श्री कृष्ण सोए हुए थे कि 'जरा' नामक शिकारी ने उन्हें मृग समझकर उन पर तीर चला दिया जो उन्के पैर के तले में लगा। इसी घाव के कारण श्री कृष्ण ने प्राण त्यागे।

क्या परमेश्वर घायल हो सकता है? उसके शरीर में छिद्र हो सकता है? वेदों का निर्णय इसके विपरीत है। यजुर्वेद (40:8) में उसे 'अव्रण' अर्थात् छिद्र रहित बताया गया है।

यह भी विचारणीय है कि भगवान यदि मानव शरीर में होते तो अपनी इच्छा से स्वयं निर्धारित समय पर शरीर त्याग देते। श्री कृष्ण तो निद्रा अवस्था में दुर्घटनाग्रस्त हुए। यह तो आकस्मिक मृत्यु है।

उपरोक्त उद्धरित दोनों अंशों को देखकर कुछ अन्य स्वाभाविक प्रश्न भी उठते हैं। इन्हें आप स्वयं अपने मन में उठाएं और न्याय करें कि क्या राम और कृष्ण भगवान थे या इन्सान? महान इन्सान।

अंशवाद

अंशवाद :

शंकराचार्य ने कहा — "ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है।"

बल्लभाचार्य ने कहा — "जैसे मकड़ी अपने चारों ओर जाला बुन लेती है वही ब्रह्म और सृष्टि के सम्बन्ध की वास्तविकता है।"

समस्त सृष्टि ब्रह्म से निकलती है। इस विचारधारा के प्रचारकों में बहुत बड़े-बड़े नाम हैं। मामूली संशोधन के साथ इन सभी ने उपरोक्त आचार्यों में से किसी एक के मत को अपनाया है। यह दो मत हैं, "हर नज़र आने वाली चीज़ धोखा है, बस ब्रह्म ही ब्रह्म है" और "हर वस्तु में ब्रह्म का अंश है"। यह विद्वान कितने ही महान हों, ऐसी धारणाएं उनके चिन्तन का परिणाम, उनका अपना चलाया हुआ मत तो आवश्य हो सकती हैं, ईश्वरीय धर्म के अनुकूल बिल्कुल नहीं हैं। इस श्रेणी के विद्वानों का मूलाधार वेदान्त या उत्तर मीमांसा दर्शन है, न कि कोई ईश्वरीय धर्म ग्रन्थ। यह अलग बात है कि वेदान्ती विद्वान वेदान्त को वेदों का सार कहते हैं। वेदान्त 6 प्राचीन भारतीय दर्शन शास्त्रों में से एक है, अन्य पांचों दर्शन ब्रह्म की सत्ता को या तो स्वीकार ही नहीं करते या उसे सीमित कर देते हैं उनके विपरीत वेदान्त के रचयिता बादरायण ने ब्रह्म की महानता का इतना रोचक उल्लेख किया है कि सृष्टि के मिथ्या होने का

आभास होने लगता है और यही वेदान्त की लोकप्रियता का कारण है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले कि वेदान्ती विचारधारा वेदों के कितनी अनुकूल है, वेदों में अग्नि विषय को समझना बहुत आवश्यक है क्योंकि अग्नि को न समझ पाने के कारण वेदों की व्याख्या में बड़ी भूलें भी हुई हैं और बहुत मतभेद भी हुए हैं।

अग्नि रहस्य :[1]

'अग्नि' वेदों का मूल विषय भी है और मूल रहस्य भी। 'अग्नि' के राज़ की खोज और उसके लिए मंथन अर्थात शोध की प्रेरणा वेदों की अनेकों ऋचाओं द्वारा दी गई है, विशेषकर 'अरणी मंथन' का आदेश है। 'अरणी' शब्द मशाल, सूर्य या प्रकाश के लिए प्रयुक्त होता है। उसे ज्ञान का सूचक मानते हुए अरणी मंथन का अर्थ हुआ 'ज्ञान द्वारा शोध'। 'अग्नि रहस्य' खोज लेने पर वेद अनुयायियों को विश्व नरेश पदासीन होने का शुभ समाचार भी दिया गया है।

> **"मन्थता नरः कविमद्वयन्तं प्रचेतसममृतं सुप्रतीकम् यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरस्तादग्निं नरो जनयता सुशेवम्"** (ऋग्वेद 3:29:5)
> श्रेष्ठ ज्ञानी, अविनाशी कवि, प्रदीप्तीयुक्त देह वाली अग्नि को अरणी मंथन से प्रकट करो। तुम यज्ञ क्रम में मनुष्य का नेतृत्व करने वाले हो..... उन्हें प्रारम्भ में प्रकट करो।

वेदों में जब हम अग्नि विषय का अध्ययन करते हैं तो कहीं यह शब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है, और कहीं यह नर (मनुष्य) का सूचक है। यथा —

> **"यदग्ने .... सहसः सुनवाहुत"** (ऋग्वेद 8:19:25)
> हे अग्नि, जगदुत्पादक, सर्वपूजित.....
>
> **"त्वमग्ने प्रयदक्षिणं नरं ....."** (ऋग्वेद 1:31:15)
> अग्नि वह इन्सान (तुम हो) जो तपस्वियों से प्रसन्न होता है।

यहि स्थिति ब्राहमणों व उपनिषदों की है। अग्नि कहीं ब्रह्म है, कहीं आत्मा और कहीं पुरुष। यथा —

"ब्रह्म वा अग्नि" (कौ० 9:1:5)
ब्रह्म अग्नि है।

"आत्मैवग्नि" (शत० 6:7:1:20)
आत्मा ही अग्नि है।

"पुरुषोऽग्नि" (शत० 10:4:1:6)
पुरुष अग्नि है।

परिणाम यह हुआ कि कभी तो ब्रह्म को आत्मा मान लिया गया और कभी अग्नि को देवता समझा गया तो कभी पुरुष से अभिप्राय भी ब्रह्म को लिया गया। ब्रह्म न आत्मा है, न जीव न पुरुष। ब्रहदारणयक की 'नेति-नेति' की पुनरुक्ति उसके वर्णन में बहुत दूर तक गई है। "वह ऐसा है"? "नहीं"। "ऐसा है"? "नहीं"। बुद्धि जो कुछ भी सोच सकने में समर्थ है, वह उस से परे है। उसके नेत्र नहीं हैं लेकिन देखता है, कान नहीं परन्तु सुनता है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है फिर भी समस्त सृष्टि पर व्याप्त है। आकाश व पृथ्वी में वह नहीं समा सकता पर योगी के मन में समा जाता है। इसी कठिनाई को देखते हुए साधारण जनता के लिए रामानुज आचार्य ने ब्रह्म के सगुण रूप 'ईश्वर' की कल्पना दी थी। अग्नि ब्रह्म है, आत्मा है, पुरुष है जबकि ब्रह्म न आत्मा है और न पुरुष। इस रहस्य से परदा उठाते हुए कहा गया —

"अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा हव्यावाड् जुहवास्यः"
(ऋग्वेद 1:12:6)
मेधावी, गृहरक्षक, हविवाहक और तेजस्वी मुख वाले अग्नि को अग्नि ही प्रज्वलित करते हैं।

"अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् हव्यवाहं पुरुप्रियम्"
(ऋग० 1:12:2)
अग्नि के (जन्म दाता) अग्नि जो पूरे संसार के पालक हैं उन्हें हम सदा के लिये हवि प्रस्तुत करते हैं।

मालूम हुआ कि अग्नि दो प्रकार के अस्तित्वों को कहा गया है। एक जन्म देने वाला अग्नि तथा अन्य वह जो सृष्टि है। अग्नि शब्द की व्याख्या सनातन धर्मी व आर्यसमाजी दोनों भाष्यकारों ने 'अग्रणी' से की है, अर्थात सबसे आगे, सबसे पहला, सर्वप्रथम। ब्रह्म अग्नि है क्योंकि वह सर्वप्रथम है, उससे पूर्व कुछ न था। उसने अपनी सबसे पहली कृति या सृष्टि को बनाया तो उसे भी अपना सगुण नाम 'अग्नि' दिया क्योंकि वह प्रजाओं में अग्रणी है, सर्वप्रथम है। यह सर्वप्रथम उत्पत्ति, आत्मा थी, पहली आत्मा, परम आत्मा, परमात्मा क्योंकि भौतिक शरीर प्रदान किये जाने से पहले वह स्वर्ग लोक में थी।

"अग्निर्वै स्वर्गस्य लोकस्याधिपतिः " (ऐ० 3:42)
स्वर्गलोक में अधिपति अग्नि हैं।

आदि सृष्टि को ब्रह्म ने अपना दूत बनाया —

"अग्निं दूतं वृणीमहे" (ऋगवेद 1:12:1)
हम अग्नि को दूत चुनते हैं।

इस आत्मालोक के ईश-दूत को देह रूप में संसार में भी आना था, इस कारण अग्नि को पुरुष कहा गया। तब वह नराशंस व 'जातवेद' कहलाए।

"तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते"
(ऋगवेद 3:29:11)

जिस अग्नि का व्यापक रूप कभी नष्ट नहीं होता उसे तनूनपात कहते हैं, जब वह साक्षात होते हैं, तब आसुर और नराशंस कहलाते हैं.....

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः"

(ऋगवेद- 10:45:1)

अग्नि का प्रथम जन्म विद्युत (तेजस्वी) के रूप में स्वर्गलोक में हुआ, उनका द्वितीय जन्म हम मनुष्यों के मध्य हुआ, तब वह जातवेद कहलाए.....

इससे स्पष्ट है कि परम आत्मा या परमात्मा ब्रह्म नहीं, आदि सृष्टि हैं। पूज्य नहीं उपासक हैं। इस राज़ को जब वेद के नाम लेवाओं ने खो दिया तो विश्व नायक न रहे, अंधकारमय अज्ञान में स्वयं खो गए। आत्मा परमात्मा व ब्रह्म परस्पर गडमड हो गए। एक पूजनीय के साथ अन्य पूज्य बन गये। उद्धार कैसे हो?

अंश से नहीं मनन शक्ति से उत्पत्ति ः

ब्रह्म का अंश किसी में नहीं, उसकी पहली रचना परमात्मा में भी नहीं। सृष्टा ने आदि सृष्टि को अपने सगुण नाम दिये और उस पहली आत्मा को सम्पूर्ण सृष्टि रचना में साधन बनाया, इस प्रकार उसके अस्तित्व का नहीं, उसके गुणों का प्रतिबिम्ब पहली रचना में —— तथा उस आदि सृष्टि के माध्यम से सम्पूर्ण सृष्टि में है। प्रथम जीवात्मा अग्नि को उसने अपने अंश से नहीं, अपनी मनन शक्ति, अपने विचार, या चिन्तन से पैदा किया। वेदों में इसका स्पष्ट वृतांत है।

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।
तिरश्चीनो बिततो रश्मिरेषामधः स्विदासी3दुपरि स्विदासी3त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।।"
(ऋगवेद 10:129:4-5)

जब ब्रह्म ने सर्वप्रथम सृष्टि रचना की इच्छा की, उस (की इच्छा) से सर्वप्रथम बीज का प्राकट्य हुआ। उसी एक ने अपनी बुद्धि के द्वारा विचार करके अप्रकट वस्तु की उत्पत्ति कल्पित की। इस प्रकार आदि पुरुष की उत्पत्ति हुई।

भूला बिसरा शाश्वत धर्म

सनातन धर्म की सदा से यह मान्यता थी, आज भी है, कि —— 'वेद ईश्वर की वाणी हैं। सनातन धर्म के मान्य अन्य सभी ग्रन्थ ऋषियों मुनियों की कृतियां हैं। वे ऋषि, मुनि कितने ही महान हों, उनके विचार यदि वेदों के प्रतिकूल हों तो त्यागने योग्य हैं।' —— वेदानुकूल एक निराकार ब्रह्म ही उपासनीय है। मूर्ति पूजन, बहुदेववाद, अवतारवाद, अंशवाद, वैदिक धर्म के अनुकूल नहीं हैं। एक परमेश्वर के अनेकों सुन्दर सगुण नाम हैं। उसे चाहे जिस नाम से पुकारें वह एक ही रहेगा। अलग-अलग नामों की पृथक-पृथक आकृतियां नहीं हैं। उस के किसी नाम की कोई प्रतिमा नहीं है वह मनुष्य रूप धारण करके जीता मरता या सुख-दुख नहीं भोगता। उसका अंश किसी में नहीं है। उसकी सर्वश्रेष्ट रचना मानव के मस्तिष्क को मानवकृत रचनाओं के आगे झुकाना उसका अपमान है। महापाप है। वेदों का निर्णय अन्त में फिर सुन लें ——

"स एष एक एकवृदेक एव" (अ० 13:4:12)
वह ईश्वर एक और सचमुच एक ही है।

"तस्य ते भक्तिवांसः स्याम" (अ० 6:71:3)
हे ईश्वर हम तेरे ही भक्त हों।

"एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः" (अ० 2:2:1)
एक ईश्वर ही पूजा के योग्य और सभी प्रजाओं में स्तुति योग्य है।

"इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (ऋगवेद 1:164:46)
ईश्वर को ही इन्द्र, मित्र या वरुण कहते हैं, वही आकाश में गरुत्मान है वही अग्नि यम और मातरिश्वा है। विद्वान जन उस एक को अनेक नामों से पुकारते हैं।

"त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्त्तः सचसे पुरन्ध्या।" (ऋग्वेद 2:1:3)
हे अग्नि तुम ही विष्णु हो, तुम ब्रह्मनस्पति हो, ब्रह्मा हो, हे ईश्वर तुम ही सज्जनों की कामना पूरी करने वाले इन्द्र, तुम ही उपासना योग्य हो।

(इस प्रकार इस सूक्त के आगामी मन्त्रों (ऋग्वेद 2:1:4,6,7,11) में उसी एक सत्ता को मित्र, अर्यम, रुद्र, पुषा, सविता, वायु, इडा तथा सरस्वती आदि नामों से पुकारा गया है।)

सनातन धर्मी भाईयो। आपको अपना भूला बिसरा वैदिक शाश्वत धर्म याद दिलाने में मेरा अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं है। चाहें तो स्वीकार करें, विश्व नेतृत्व पद आपकी प्रतीक्षा में है, वरना यह जीवन अन्तिम नहीं है, इसके बाद अनन्त जीवन है जहां आपको अपने कर्मों का हिसाब देना है।

उद्धरण

साकार उपासना

1. असम्भूति का अर्थ श्री शंकराचार्य ने यूं किया है— "Undeveloped prakriti, Nature in it's casual or germinal state" — अर्थात विकास से पूर्व दिशा में प्रकृति अथवा प्रकृति का अव्यक्त कारण रूप (Foot Note in Griffith's translation of the mantra) सनातनी पंडित श्री राम शमा आचार्य ने श्री सायण भाष्य के अनुसार 'असम्भूति' का अर्थ माया कर्म करने वाले देवी-देवता बताया है।
2. पृ0 293, लाला सुमेर चन्द्र जैन, जैन मत सार (उर्दू), जैन मित्र मण्डल, धर्मपुरा दिल्ली, मई 1937
3. पृ0 30 विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य (सप्तम खण्ड), स्वामी बुद्धानन्द, अध्यक्ष अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथौरागढ़ (यू.पी.) द्वितीय संस्करण, 1973
4. पृ0 149, डा0 चमन लाल गौतम, विष्णु रहस्य।

बहुदेव वाद

1. पृ0 9, अखण्ड ज्योति, अप्रेल 1981
2. पृ0 15, अखण्ड ज्योति, जून 1985
3. पृ0 28, अखण्ड ज्योति जुलाई 1985
4. पृ0, 13 से 16, अखण्ड ज्योति, जून 1987
5. पृ0 14, अखण्ड ज्योति जून,1985
6. पृ0 16, अखण्ड ज्योति, जून 1985

अवतारवाद

1. कबीर शबद 8 ; उद्धरित पृ0 163, डा0 तारा चन्द, Influence of Islam on Indian Culture.
2. कबीर सखी, अवतार का अंग ; उद्धरित पृ0 163 डा0 तारा चन्द, Influnce of Islam on Indian Culture.
3. पृ0 153-54 श्लोक महल्ला 1, राम कली की वार, आदि गुरू ग्रन्थ साहिब
4. पृ0 31, अखण्ड ज्योति, मार्च 1981
5. वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, 63:3

अंशवाद

1. यहां इस विषय का हम संक्षिप्त वर्णन कर रहें हैं। विस्तृत अध्ययन के लिये देखें हमारी पुस्तक 'कितने दूर कितने पास' का 'अग्नि रहस्य' नामक अध्याय।